

## मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में किसानों की आर्थिक स्थिति

डॉ० मनीष कुमार\*

समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता, समुन्नति और सुख सुविधा पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भौतिक एवं लौकिक सुख उसके आर्थिक विकास से ही प्रभावित होता रहा है। मनुष्य के आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि, पशुपालन और व्यापार रहा है। सभ्यता व संस्कृति के अति प्रारंभिक चरण से ही मनुष्य ने जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों की खोज शुरू कर दी थी। आदिमानव अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शिकार खेलता था। जैसे-जैसे मनुष्य विकास करता गया उसने पशुपालन को आर्थिक जीवन का आधार बनाया। तत्पश्चात् अन्य साधनों की खोज की। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास होने पर धन प्राप्ति के लिये कृषि, उद्योग, वाणिज्य और व्यवसाय का भी प्रयोग होने लगा। व्यक्ति का भौतिक और लौकिक सुख उसके आर्थिक विकास से प्रभावित होता रहा है। धन प्राप्ति के लिये मनुष्य विभिन्न प्रयोग करता है व योजनाएँ बनाता है। इन प्रयत्नों और योजनाओं से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मनुष्य व मानव समाज की सम्पन्नता व उन्नति में कृषि का विशेष योगदान रहा। भारत में कृषि के विकास का प्रारंभ पाषाण काल से हो गया था। हड़प्पा काल, वैदिक काल और वेदोत्तर काल से क्रमशः कृषि के क्षेत्र में अधिकाधिक विकास होता गया। मौर्यकाल तक आते-आते कृषि आर्थिक विकास का अभिन्न अंग बन गई। कृषि की विकसित अवस्था के परिणामस्वरूप कृषक भी भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ बन गये। यदि किसी काल या समाज की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना हो तो उस काल या समाज के मनुष्यों के आर्थिक जीवन का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। जब कृषक मौर्य काल के आर्थिक जीवन की आधारशिला बन गये थे तब उनकी आर्थिक दशा के माध्यम से मौर्यों के सम्पूर्ण आर्थिक विकास की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आर्थिक जीवन का स्वभाविक प्रभाव सामाजिक व राजनैतिक दशा पर भी पड़ता है। इसलिये कृषकों की आर्थिक दशा के माध्यम से उनकी सामाजिक व राजनैतिक दशा का ज्ञान भी प्राप्त किया गया है।

\*पी-एच० डी० इतिहास विभाग बी० एन० एम० यू० मधेपुरा

इतिहास के अध्ययन क्षेत्र के रूप में किसी भी युग के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन का अध्ययन करने पर ही हमें उस काल की समुचित जानकारी मिलती है। किसी भी देश या काल की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए आम लोगों के आर्थिक जीवन को जानना इतिहास के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि आर्थिक जीवन ही राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की धुरी है।

प्राचीनकाल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि का उल्लेख मोहनजोदड़ों व हड़प्पा से प्राप्त अभिलेखों से लेकर वैदिक व उत्तरवैदिक काल तक के ग्रन्थों में मिलता है। आर्यों ने कृषि के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि की थी। वैदिक युग में आर्यों का आर्थिक जीवन काफी हद तक कृषि पर निर्भर था। हड़प्पा अवशेषों से काफी संख्या में प्राप्त होने वाले अनाज पीसने और कूटने की चकियों, ओखलियों तथा अन्नागारों से ऐसा लगता है, कि कृषि कार्य बड़े पैमाने पर किया जाता था। तत्कालीन हड़प्पा प्रदेश की उर्वरक भूमि और जलवायु कृषि के लिए उपयुक्त थी। अनुमानतः हड़प्पावासी गेहूँ, जौ, मटर, तिल, कपास आदि की खेती करते थे। संभवतः वे शीशम, नारियल, केला, खजूर, नींबू, अनार आदि से भी परिचित थे, जैसाकि पात्रों पर अंकित चित्रों से लगता है। उत्खनन में जो बड़े-बड़े पात्र प्राप्त हुए हैं, उनका उपयोग अनाज रखने के लिए किया जाता होगा। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से जो विशालकाय अन्नागार एवं दुर्गक्षेत्र प्राप्त हुए हैं, वहाँ संभवतः कर के रूप में दिया गया अनाज संग्रहित किया जाता था।

ऋग्वैदिक काल (लगभग 1500-1000 ई.पू) में आर्य पूर्वी अफगानिस्तान, पंजाब तथा सिन्ध के अतिरिक्त कश्मीर, हरियाणा, पश्चिमी उत्तरप्रदेश एवं राजस्थान के कुछ हिस्सों में भी बसे हुए थे। यायावरी जीवन के अभ्यस्त होने के कारण तथा अनार्यों से संघर्षरत रहने के कारण इस कालावधि के प्रारंभिक भाग में उनकी अर्थव्यवस्था मुख्यतः पशुचारण पर ही आधारित रही और कृषि का अपेक्षाकृत गौण स्थान रहा। ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरणों में कृषि पर बल दिया जाने लगा। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में लिखा है कि अश्विन देवताओं ने मनु को हल चलाना और जौ की खेती करनी सिखायी। ऋग्वेद के एक मंत्र में जंगल साफ कर भूमि को षि योग्य बनाने का उल्लेख है और दूसरे मंत्र में इन्द्र द्वारा कृषि भूमि के वितरण का विवरण है। दसवे मण्डल में जंगल काटने, भूमि जोतना, बीज बोने, हँसिया से फसल काटकर घर ले जाने, खलिहान इत्यादि का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल के अन्तिम भाग तक आते-आते प्रमुख अनाजों में से अधिकांश का उत्पादन किया जाने लगा था। कृषि का आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान हो गया तथा कृषि का पूर्ण विकास भी हो चुका था। अथर्ववेद में छः से बारह बैलों को हल से जोड़कर गहरी जुताई का वर्णन मिलता है।

वेदोत्तर काल की अर्थव्यवस्था में कृषि का सर्वप्रमुख स्थान हो गया था। कृषि भूमि का पर्याप्त विस्तार किया गया था और कृषि की विधि में भी विकास हुआ था। इस काल में खेती के काम में लौह उपकरणों का प्रयोग किया जाने लगा था और हल में लोहे के फाल लगाए जाने लगे थे। जो सख्त जमीन तथा गहरी जुताई के लिए विशेष रूप से उपयोगी थे। वर्ण व्यवस्था के नियमों के अनुसार कृषि मुख्यतः वैश्यों का व्यवसाय था और शुद्र मजदूरों के रूप में उनकी सहायता करते थे। किंतु धर्मसूत्रकारों ने आपत्तिकाल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को भी कृषि कर्म द्वारा जीवन निर्वाह करने की अनुमति दे दी थी।

मौर्यकाल में प्राचीन वैदिक व्यवस्था का अनुसरण करते हुए समाज पूर्वतः चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मण का कार्य अध्ययन, अध्यापन, वनज, याजन, दान करना और ग्रहण करना है। क्षत्रिय का कार्य अध्ययन, यजन, दान करना शस्त्राजीव (शस्त्र द्वारा अजीविका प्राप्त करना) और भूतरक्षण (प्राणियों की रक्षा) है। वैश्यों का कार्य अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य है। शूद्रों का कार्य द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा करना, वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य), कारुकर्म (शिल्पी या कारीगर का कार्य) और कुशलीव कर्म (नट के कार्य) हैं। विविध वर्णों के ये कार्य वहीं हैं, जो मनुस्मृति तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित हैं। शूद्र कृषि व उद्योग दोनों से सम्बद्ध थे। शूद्र खेतों में कृषक अथवा कृषि मजदूर के रूप में कार्य करते थे तथा उद्योग के क्षेत्र में तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), तुन्नवाय (दर्जी), सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार (चमार), कर्मार (लुहार), लोहकार, कुट्टाक (बदई) आदि के रूप में श्रम करके जीविका चलाते थे। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय समाज सात वर्णों में बंटा हुआ था। ये वर्ग इस प्रकार थे दार्शनिक, सिपाही, चरवाहे, दस्तकार, दंडनायक और पार्षद। अर्थव्यवस्था में विकास के साथ साथ किसानों की आर्थिक भूमिका का महत्व भी बढ़ता चला गया। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय सात जातियों में किसानों का दूसरा दर्जा था। संख्या में यह वर्ग काफी बड़ा था और भूमि से जुड़ा हुआ था। आसपास की लड़ाईयों में सेनाएँ इस वर्ग को हानि नहीं पहुँचाती थी। किसान उपज का चौथाई भाग कर के रूप में देते थे।

कौटिल्य ने कृषि को अन्य व्यवसायों से श्रेष्ठ माना क्योंकि इससे मिलने वाले लाभों के संबंध में बहुत कुछ निश्चिता होती थी। उनके अनुसार वही राज्य अच्छा है, जहाँ पर्याप्त कृषि भूमि, खाने, वन एवं पानी के स्रोत हों, क्योंकि ये राज्य की शक्तियाँ हैं। कौटिल्य ने अनाजों के उत्पादन को प्रोत्साहन देने को राजा के कर्तव्यों में शामिल किया। खानयुक्त एवं अधिक धान्य पैदा करने वाली भूमियों की तुलना करते हुए कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि खानयुक्त जमीन केवल राजकोष की

वृद्धि करती है जबकि धान्ययुक्त भूमि कोष और कोष्ठागार दोनों को सम्पन्न बनाती है। अर्थशास्त्र में यह भी कहा गया है कि निम्नवर्ग के लोग ही अधिकांशतः कृषि एवं इससे संबंधित कार्य करते हैं, इसलिए जिस देश में उच्च वर्गों के लोगों की अपेक्षा निम्न जाति के लोग अधिक संख्या में होते हैं, वहाँ की अर्थव्यवस्था बेहतर होती है। कृषि के विकास में वैश्य व्यापारियों के योगदान के विषय में कौटिल्य ने लिखा है कि ये व्यापारी अनाजों के भंडार रखते थे और आवश्यकता पड़ने पर किसानों को ऋण देते थे। इसलिए वह स्थान कृषि की उन्नति के लिए अधिक अनुकूल होते हैं जहाँ खेती के लिए ऋण देने वाले वैश्य व्यापारी बड़ी संख्या में रहते थे।

अर्थशास्त्र में विभिन्न अनाजों, मिर्च-मसालों तथा अन्य वस्तुओं के बोनो के लिए उपयुक्त ऋतुओं का विवरण प्राप्त होता है। कौटिल्य ने ऊसर, बंजर तथा उर्वरक भूमियों के लिए क्रमशः अकृष्ट स्थल एवं कृष्ट जैसे विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। मौर्यकाल में सरकारी कृषि फार्मा, व्यक्तिगत भूस्वामित्व, सिंचाई, कृषि मजदूरों एवं दासों के अतिरिक्त भू-हस्तारण के नियम भी बनाये गये थे। भूराजस्य संबंधी अधिकारियों के कार्यों को निश्चित किया गया। कौटिल्य के अनुसार धार्मिक कार्यों के लिए सुरक्षित की गई भूमियों को छोड़कर अन्य समस्त जमीनों से खेती की जानी चाहिए। सीताध्यक्ष आवश्यक बीजों के भंडार भी रखता था और दासों, श्रमिकों एवं सश्रम कारावास का दंड पाए अपराधियों को खेती के कामों में लगाता था। कृषकों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उन्हें लुहारों, बढइयों, रस्सी बनाने वाले एवं फसल के लिए हानिकारक जीव जंतुओं को नष्ट करने वालों की सेवाएँ उपलब्ध कराता था।

स्पष्ट है कि मौर्य प्रशासन कृषि के महत्व को पूरी तरह से समझता था तथा कृषि में होने वाली आय को राज्य की आय का प्रमुख स्रोत मानता था। इसलिए वो न केवल कृषि के विकास के लिए प्रयासरत था वरन कृषकों व कृषि श्रमिकों के आर्थिक जीवन के सुधार के लिए भी निरन्तर प्रयासरत था एवं इनकी उन्नति के लिए अनेक नियम बनाये थे। प्राचीन काल से ही भारतीय समाजिक जीवन में अनेक महत्व के प्रति जागरूक था। भारतीय समाज के निर्माण का आधार ही श्रम था। श्रम के आधार पर ही प्राचीन भारतीय समाज का नियमन, विभाजन और संगठन किया। व्यक्ति, परिवार, समुदाय और समाज स्वाभाविक रूप से श्रम से बँधा हुआ था, जिसके आधार पर उसका भौतिक विकास हो रहा था। चारों वर्णों के अपने अलग-अलग कार्य थे, जिसमें श्रम निहित था। वैदिक कालीन सामाजिक विभाजन धीरे-धीरे संगठित और व्यवस्थित होता गया और समाज में श्रम की महत्ता और प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। जिसका मूलभूत कारण आर्थिक जीवन का

उत्तरोत्तर विकास था। मौर्यकालीन विकसित होते हुये समाज में धन के बढ़ते हुए महत्व को नकारा नहीं जा सकता था। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में विकास के लिए सशक्त अर्थव्यवस्था एक मूलभूत आवश्यकता थी। भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण आर्थिक विकास के लिए मुख्य रूप से कृषि पर होने वाली आय पर निर्भर था। इसीलिये तत्कालीन आर्थिक जीवन में कृषि व भूमिकर से होने वाली आय का महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारत में सर्वप्रथम बलि नामक कर का उल्लेख मिलता है। यद्यपि ये तथ्य स्पष्ट नहीं है कि ये भूमि पर ही लगने वाला कर था या अन्य कोई कर था। सम्भवतः इस काल में राजा द्वारा कबीले की रक्षा और अन्य कबीलों के विरुद्ध युद्धों में विजय प्राप्त करने के बदले में प्रजा राजा को ये बलि प्रदान करती थी। उस काल में यह प्रजा की स्वेच्छा पर आधारित था और इसको प्रदान करने का स्वरूप उपहार, फल-फूल, अनाज, पशु इत्यादि के रूप में था। सम्भवतः यह ऋग्वैदिक काल का एकमात्र कर था इसी कारण राजा के पद प्राप्ति के समय ये प्रार्थना की जाती थी कि इन्द्र भगवान राजा को प्रजा से बलि दिलवाने में सहायता करें और राजा को भी इसी कारण बलिहत कहा जाता था।

उत्तरवैदिक काल में भी बलि नामक कर का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु इस काल में ये प्रजा की स्वेच्छा पर आधारित न होकर अनिवार्य अंशदान का रूप ले चुका था। इसके अतिरिक्त उत्तर वैदिक काल में भाग नामक कर का भी उल्लेख मिलता है जो कि षकों से वसूला जाता था। सम्भवतः इस काल में भूमि से स्पष्टतः कर लिया जाने लगा था। वेदोत्तर काल में लोहे के उपकरणों का प्रयोग किया जाने लगा। जिससे कि सख्त जमीन पर भी गहरी खुदाई होने लगी। इसमें अनाज के उत्पादन में वृद्धि हुई और भूमिकर राज्य की आय प्रमुख साधन बन गया। भूमिकर के राज्य की आय का प्रमुख साधन बनने के साथ ही कृषकों के शोषण की समस्या उत्पन्न हुई। राज्य किसानों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाने लगे। जातकों में कर के लिए विभिन्न शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। जिससे पता चलता है कि कर व्यवस्था का क्रमिक विकास हो रहा था। जो किसान किसी निजी नियोक्ता के आधीन कार्य करते थे उनके मालिक उनका शोषण करने लगे थे।

मौर्यकाल तक आते-आते कृषि का और अधिक विकास हो गया था। नवीन तकनीक व सिंचाई के साधनों के प्रयोग से अन्न का उत्पादन बढ़ गया था। इस कारण मौर्य प्रशासन कृषि व्यवस्था और कृषकों की ओर अधिक ध्यान देने लगा। शासन द्वारा भूमि का वर्गीकरण किया जाने लगा। उसे बंजर, परती, केदार, विवीत, खिल, ऊर्वर और उप्रदा आदि वर्गों में बाँटा गया। वर्गीकरण के पश्चात भूमि का सर्वेक्षण भी किया जाता था और उसको समय-समय पर नापा जाता था। भूमि

से सम्बन्धित विभिन्न विवादों को राज्य द्वारा ग्रामीणों की मदद से सुलझाया जाता था।

कर निर्धारण और संग्रहण के लिए विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। जैसे – गोप, स्थानिक, समाहत्ता और सन्निधाता आदि। अलग-अलग भाँति की भूमि के लिए अलग-अलग करों का निर्धारण किया जाता था। भूमि की गुणवत्ता के आधार पर भूमिकर की दर 1/4 से लेकर 1/8 भाग तक रखी जाती थी। भूमिकर देश, काल और उपज को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता था। साथ ही भूमि की स्थिति, उर्वरता तथा सिंचाई के साधनों का भी ध्यान रखा जाता था। मौर्यकाल में भूराजस्व ग्रहण करने का उद्देश्य केवल राज्य की आय बढ़ाना नहीं था। बल्कि कृषकों द्वारा उगाये जा रहे अनाज का प्रयोग राज्य और जनता को अधिकतम लाभ देने के लिए करना था। मौर्यकाल में भूमिकर व्यवस्था का स्वरूप ऐसा रखा गया जिसमें कृषकों की हानि न हो और समाज के अन्य वर्ग लाभान्वित हो सके। कृषकों पर लगाये जाने वाले विभिन्न करों के विवरण से ये स्पष्ट है कि मौर्यकाल में इन करों से होने वाली आय को राज्य की अर्थव्यवस्था के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इसीलिए कर निर्धारण के विषय में प्रशासन अत्यन्त सजग था। राजा को ये स्पष्ट निर्देश थे कि वो कृषकों का शोषण नहीं करेगा। भूराजस्व की दरें निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि कृषकों पर अनावश्यक बोझ न पड़े।

भूमिकर वसूलने के लिए कृषकों का शोषण नहीं किया जाता था। अकाल व अन्य विपत्तिकालीन परिस्थितियों में भूमिकर पर छूट दे दी जाती थी। राज्य ने भूमिकर का आधार प्रजाहित रखा था। उनका उद्देश्य कृषकों का शोषण करना नहीं था। बल्कि उनके कार्य का प्रयोग राज्य की आर्थिक उन्नति के लिए करना था। यदि कोई किसान कृषि व्यवस्था में विशेष सुधार करता था तो उसे पाँच वर्ष भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। नई भूमि, नये तालाब व नये सेतुबन्धों को भी कुछ समय तक कर मुक्त रखा जाता था। मौर्य प्रशासन का कल्याणकारी रूप न केवल भूमिकर व्यवस्था से प्रकट होता है। वरन वेतन व्यवस्था में भी प्रकट होता है। मौर्यकाल में कृषि श्रमिकों को वेतन दिया जाता था। कृषि श्रमिक को 15 पण वार्षिक वेतन मिलता था। वेतन समय पर दिया जाता था। यदि मालिक श्रमिक को समय पर वेतन नहीं देता था तो उसे दण्ड दिया जाता था। बहुत से कृषि श्रमिक राजकीय खेतों में भी कार्य कर रहे थे। राज्य उन्हें हल, बैल, बीज तथा उत्पादित अनाज में हिस्सा प्रदान करता था। यदि कोई श्रमिक बीमारी के कारण या किसी अन्य कारण से काम नहीं कर पाता था तो उसे क्षमा कर दिया जाता था। श्रमिकों को छुट्टियों भी दी जाती थी, जो श्रमिक छुट्टियों में काम करते थे उन्हें

अतिरिक्त पैसे मिलते थे। निपुण श्रमिकों को सम्मान तथा पुरस्कार भी दिया जाता था।

कृषि श्रमिक एवं नियोक्ता के मध्य विवाद होने पर कौटिल्य द्वारा दण्ड की व्यवस्था की गई थी। सामान्यतः दो प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड दिया जाता था। प्रथम यदि वह अग्रिम वेतन प्राप्त करने के पश्चात भी कार्य में बिना उचित कारण के विलम्ब करता था। द्वितीय यदि वह समय पर कार्य खत्म नहीं करता था तो उसका वेतन कम कर दिया जाता था। सामान्यतः वेतन का—भाग अथवा — भाग वेतन में से दण्ड स्वरूप कम कर दिया जाता था। यदि अमिक अपेक्षा के अनुरूप कार्य नहीं करता था तब भी उस पर वेतन जब्त करके दण्ड लगाया जाता था। यदि श्रमिक द्वारा कार्य बिना नियोक्ता की सहमति के कर दिया जाता था तो उसे कोई वेतन नहीं दिया जाता था। उपर्युक्त सभी तथ्यों के अवलोकन के पश्चात कहा जा सकता है कि मौर्यकाल में श्रमिकों व नियोक्ता दोनों के लाभ का पूरा ध्यान रखा गया था। राज्य इस बात के लिये विशेष रूप से सतर्क था कि दोनों में से कोई भी दूसरे का शोषण न कर सके। नियोक्ता समय पर वेतन देने के लिये बाध्य था तथा श्रमिक समय पर तथा भली प्रकार से कार्य करने के लिये बाध्य थे।

कृषकों की आर्थिक दशा को पूर्ण रूप से समझने के लिये उन्हीं के समान श्रम से जीवन बिताने वाले श्रमजीवी वर्ग की आर्थिक दशा का ज्ञान भी आवश्यक है। उर्वरक भूमि तथा जलवायु के फलस्वरूप भारत में उपज बहुत होती थी तथा खनिज पदार्थों की भी कमी नहीं थी। यहाँ अनेक प्रकार के उद्योग और व्यवसाय से भी उत्पादन में वृद्धि हुई। आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार उन्नत अवस्था में था। मौर्यकाल में दो प्रकार के श्रमिकों का उल्लेख मिलता है। एक वो जो साधारण श्रमिक थे और दूसरे वह जो किसी विशेष शिल्प में विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर चुके थे। ऐसे विशिष्ट योग्यता प्राप्त शिल्पकार एवं कारीगर अपने कार्य के द्वारा प्राचीन भारत की आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे थे। इस कारण से इन कारीगरों एवं शिल्पकारों को आर्थिक लाभ हो रहा था। मौर्यकाल में औद्योगिक श्रमिकों विशेषकर दक्ष श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो रहा था। मौर्य प्रशासन इस बात से अवगत था कि श्रमिकों की स्थिति में सुधार के बिना व्यापार व उद्योगों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता था। यदि श्रमिक अपनी आर्थिक स्थिति एवं कार्य स्थल से सन्तुष्ट नहीं होते थे तो किसी भी उत्पाद की गुणवत्ता में सुधार होना कठिन था। इसके लिए मौर्य प्रशासन ने श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए अनेक कार्य किये थे। मौर्य प्रशासन अनेक उद्योग—धन्धों को स्वयं संचालित करता था। जिसके कारण वह श्रमिकों को बड़ी संख्या में रोजगार प्रदान करता था जैसे हथियार बनाने वाले, बुनाई करने वाले, राज्य के कृषि फार्मा में कार्य

करने वाले श्रमिक आदि। मौर्य प्रशासन न सिर्फ औद्योगिक श्रमिकों को रोजगार प्रदान करता था बल्कि उनके वेतन भी निर्धारित करता था।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि किसान भारतीय आर्थिक सामाजिक व्यवस्था का शुरुआत से ही महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। एक सूदृढ़ सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था की कल्पना उनके बिना नहीं की जा सकती थी। वैदिक काल की शुरुआत से ही किसानों को समाज के महत्वपूर्ण अंग का दर्जा दिया गया था। जो अपनी मेहनत से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करते थे। ऋग्वैदिक काल में किसानों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति मजबूत थी और उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन जैसे—जैसे सामाजिक व्यवस्था में क्लिष्टता आती चली गई, वैसे—वैसे कृषकों की दशा प्रभावित होने लगी। समाज का एक वर्ग जिसके पास साधन और सत्ता थी, उसने समाज के कमजोर वर्ण का शोषण किया। उच्च वर्ण की तुलना में कृषकों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। यद्यपि बौद्धकाल के आरम्भ में वर्ण व्यवस्था के क्लिष्ट नियमों में कुछ लचीलापन आया किन्तु किसानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति वैदिक काल के समान ही रही। बौद्धकाल के अन्त तक आते—आते किसानों की स्थिति में और सुधार हुआ और मौर्यकाल में कृषि के विकास के कारण किसानों को उचित सम्मान दिया जाने लगा।

### सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. एम0 रौस्टोवजैफ — द सोशल एण्ड इकानोमिक हिस्ट्री ऑफ दर हैलिनिस्टिक वर्ल्ड—टवस. I ऑक्सफोर्ड—1941
2. सत्यकेतु विद्यालंकार — मौर्य साम्राज्य का इतिहास — 1971
3. मजूमदार, R.C.—कोर्पोरेट लाइफ इन एनसियण्ट इंडिया—1918
4. बी0 एन0 मुखर्जी—द इकॉनामिक्स फेक्टर इन कुशल हिस्ट्री—1970

